सामाजिक रूढ़ियों की भूमि पर स्त्री–विमर्श

पायल साहनी
दर्शन शास्त्र विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

स्त्री विमर्श नारीवादियों और समाजशास्त्रियों में सदैव सामयिक और चिरन्तनशील रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व से लेकर वर्तमान समय तक विभिन्न काल खण्डो में स्त्रियों के अधिकार, उनकी सुरक्षा, गरिमापूर्ण जीवन जीने के उनके ईश्वरीय एवं सांविधानिक अधिकार स्वयं को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता, सामाजिक और आर्थिक उल्लघंन में उनके योगदान तथा नैतिक मूल्यों के पोषण और संवर्धन में उनकी महती भूमिका को लेकर समय–समय पर स्वीकार्यता के स्वर मुखर हुए हैं। भारतीय समाज के सन्दर्भ में, यह मूल रूप से पितृसत्तात्मक है, साथ ही विभिन्न धार्मिक–सांस्कृतिक जातीय समूहों मे बटा हुआ है। ''ऐसे इस देश में नारी जाति के स्वरूप इतने भिन्न होते है कि उनका एक चित्र विचार करना आसान नहीं है तो भी उनकी समस्याओं में चन्द सवाल समान पाए जाते है।''[1] विविधताओं के इस देश में उत्तर, दक्षिण, पश्चिम में पितृसत्तात्मक परिवारों का वर्चस्व है परन्तु यह भी सत्य है कि पूर्वोत्तर के अधिकांश क्षेत्रों में आज भी महिलाएँ परिवार की मुख्य धुरी मानी जाती हैं। राजनैतिक एवं आर्थिक संसाधनों तक उनकी पहुँच भले ही देश के अन्य हिस्सों की तरह न हो परन्तु विचार रखने की स्वतन्त्रता, निर्णय लेने की स्वतन्त्रता उनमें दूसरे समाजों की तुलना में अधिक प्राप्त है। देश के कुछ अन्य हिस्सों जैसे केरल में स्त्रियों में सहायता एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ बेहतर हैं। परन्तु निर्णय का अधिकार जैसे अधिकांश मामलों में पुरूषों को ही प्राथमिकता प्राप्त है। प्रायः नारी सशक्तीकरण के विषय में किये जा रहे प्रयासों के विषय में देखते और सुनते हैं। प्रत्येक वर्ष स्त्री दिवस पर ढेर सारे कार्यक्रम आयोजित किये जाते है। वर्ष भर उन क्षेत्रों में कार्य भी निरन्तर चलते रहते है, परन्तु फिर भी धरातल पर स्थिति में कुछ विशेष परिवर्तन होता हुआ कम ही दिखाई देता है। महिलाएँ विभिन्न क्षेत्रों में पुरूषों से बेहतर प्रदर्शन करती नजर आती हैं। घर–परिवार और सामाजिक उत्तरदायित्व की दोहरी आवश्यकताओं को व्यवस्थित करने की जिम्मेदारी के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत महिलाएँ अपने पद से जुड़ी अपेक्षाओं के निर्वहन में भी पीछे नजर नहीं आती। कार्यों में संतुलन बनाए रखने और सम्पूर्णता से करने की उनकी क्षमता की प्रशंसा की जानी चाहिए, चाहे वे उच्च पदों पर कार्य करने वाली महिलाएँ हो, घरेलू कार्यों में सहयोग करने वाली हो या साधारण स्तर पर परिवार का सहयोग के लिए कार्य करने वाली महिलाएँ। क्योंकि अन्ततः वह राष्ट्र की अर्थव्यवस्था और सामाजिक, नैतिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। परन्तु कभी–कभी हम कार्य स्थलों पर उनके उत्पीड़न के विषय में सुनते है। ''औरतों के विरूद्ध होने वाली हिंसा का मुख्य कारण जिसे निर्देशित किया जा सकता है वह है वर्तमान तंत्र के अन्दर उनकी दासता। दोहरी प्रवृत्ति, पुनर्विवाह न करने का छल–प्रपंच।''[2] जहाँ द्विअर्थी–शब्द प्रयोग, अतार्किक फतवें, गैरवाजिब माँग एवं उनकी मानसिक एवं यौन–उत्पीड़न की घटनाएँ उन्हें हतोत्साहित करती है वही निचले स्तर पर पुरूषोचित संकुचित दृष्टिकोण का सामना करना पड़ता है।

भारतीय समाज का यदि समग्र रूप से मूल्यांकन किया जाए तो स्त्रियों की स्थिति ज्यादा संतोषजनक नहीं है और इसके कारणों में मुख्य रूप से पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण है जो सदैव औरतों को संदेह एवं कमतर रूप में आंकती है। प्रायः पुरूषों की तरफ से यह तर्क दिया जाता है कि यह स्त्री पुरूष भेदभाव ईश्वरीय अर्थात् प्राकृतिक है। बच्चों को जन्म देने के लिए (प्रजनन हेतु) अपेक्षित शारीरिक संरचना स्त्रियों को ही प्रदान की गई है, तो स्त्री के जीवन का एक लम्बा काल किसी पर निर्भर की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः आर्थिक रूप से एवं प्रजनन काल आदि में उचित देख–भाल के लिए निर्भर होना परिस्थिति–सापेक्ष आवश्यक हो जाती है। परन्तु पुरूषवादी समाज इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि क्या बच्चों के पालन–पोषण की समुचित जिम्मेदारी भी स्त्री की है ? क्या इसमें उनकी कोई भूमिका नहीं ह। बच्चों के शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास में पुरूष अपनी भूमिका से पृथक नहीं हो सकते। वर्तमान समय में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के क्षरण के सन्दर्भ में जो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य दिखाई

देता है, वह है कि पितृसत्तात्मक समाज में अधिकांश परिवारों में नैतिक मूल्यों के समावेश और विशेष रूप से स्त्रियों के प्रति आदर के भाव को तिरोहित कर दिया गया है। भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा इन मानसिकता से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। क्या ऐसी स्थिति परिस्थिति में नारी–अस्मिता के अवधारणा यथार्थ हो सकती है ? अर्थात् इन स्थितियों का सामना करने के लिए हमारे समक्ष जो चुनौतियां है, उससे हम कैसे निपट सकते है ? ''नारी का व्यक्तित्व कर्तव्यों के अतार्किक बंधनों में बंधकर रह गया। इस स्थिति में नारी चेतना का जन्म ही नहीं हुआ।''[3] अच्छी पत्नी, अच्छी माँ, अच्छी पुत्री में अच्छा होना इतना महत्वपूर्ण हो गया कि वह इसके बोझ तले कराहने लगी।''[4] यह एक ऐसी अवस्था है जिसे हम रातो–रात नहीं बदल सकते। मानसिकता में परिवर्तन अवश्यंभावी होते हुये भी न तो इसे स्वीकार करे ही। परन्तु सामाधान आवश्यक है उसके लिये निरन्तर प्रयास भी किये जाने चाहिये। परन्तु कैसे, इसका समाधान भी हमारे अन्दर ही छिपा है।

हमे स्त्रियों को देखने और समझने के अपने दृष्टिकोण मे आमूल–चूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। हमे किसी भी स्त्री को सामाजिक रूप से एक खाँचे मे रखकर देखते है। बहन, पत्नी, माँ सहयोगी मित्र। सामाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह ठीक है। इससे हम व्यवहार का नियंत्रण और सामाजिक व्यवस्था को उचित बनाये रखना सीखते है। परन्तु इसके साथ–साथ एक भिन्न दृष्टिकोण को भी दृष्टिगत रखना चाहिये। और वो है एक मानवीय सत्ता के रूप मे स्त्री की स्वतंत्रता एवं गरिमा।

जब हम एक स्त्री को सामाजिक और वैचारिक रूप से बंधन मे रखते हैं। और सदैव उससे तथाकथित सामाजिक मूल्यो एव वर्जनाओं के पालन की अपेक्षा करते है तो विरोधाभास का जन्म होता है । और अपेक्षाओं के पूर्ण न होने की स्थिति मे हमारे पुरूषोचित गुण मानवीय मूल्यों का अतिक्रमण करते है। और हम प्रकृति विरूद्ध कार्य करते है। जो अन्ततः परिवार व सामाज के लिये कष्टकारी सिद्ध होता है। परन्तु स्त्री को सृष्टि के एक अंश और मानवीय सत्ता के रूप मे स्वीकार करने से सारे भेद समाप्त हो जाते है। हम इसे अपने से कमन्तर नही बल्कि समकक्ष देखते है, उसके सम्पूर्ण विकास मे सहयोगी बनते है। और इसका परोक्ष लाभ यह है कि स्वत्रयं को मनुष्य बनाये रखने की दिशा में हम स्वतः एक कदम आगे बढ़ जाते है। इस बात को हम इस तरह भी कह सकते है कि प्रकृति ने स्त्री पुरूष की रचना मे कोई भेद–भाव नहीं किया है क्योकि अन्तर शारीरिक संरचना का नही बल्कि दृष्टिकोण का है। जिससे हमे स्वर्ण भी पीली धातु की तरह दिखायी देता है। इसके लिये पुरूषोचित दृष्टिकोण से ग्रस्त समाज को जौहरी की तरह विचार एवं विश्लेषण की आवश्यकता है। इसकी शुरूआत समाज की प्रथम इकाई परिवार से होना चाहिए। जहाँ हमे यह भावना समाहित करना होगा कि परिवार के प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्र रूप से एक व्यक्तिगत मानवीय सत्ता है। और सभी को एक–दूसरे के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव रखना है। महिलाओं के प्रति सम्मान इसमें सबसे मूलभूत तत्व है। जहाँ प्रदान करने का भाव नहीं बल्कि यह एक स्त्री के लिए स्वतः फुर्त अधिकार है।

जैसा कि महात्मा गांधी जी ने कहा है कि ''इस जमीन पर जो कुछ भी पवित्र और धार्मिक है, उसकी संरक्षक स्त्री ही है।''[5] तो यह हम पर निर्भर है कि हम कैसा राष्ट्र चाहते है। महिलाओं के प्रति होने वाले अपराध के लिए कानून दोषी को दंडित कर सकता है परन्तु महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता और सम्मान का भाव बढ़ाने मे समाज महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। और इसके लिए उन तत्वों को हतोत्साहित करना होगा जो महिलाओं की गरिमा और सम्मान को ठेस पहुँचाहे हैं। तथा उन सामाजिक पहलुओं को प्रोत्साहन देना होगा जो सौन्दर्य, प्रेम, सहिष्णुता, समानता तथा स्वतन्त्रता के पक्षधर है।

सन्दर्भ

1. काका कालेकर, समन्वय–संस्तृति और नारी, संपादन : कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली (2014) पेज नं0–(83)
2. ममता मेहरोत्रा, महिला अधिकार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (2014) पेज नं0–(123)
3. वी0एन0 सिंह, जनमेजय सिंह, नारीवाद, रावत प्रकाशन, जयपुर (2013) पेज नं0–(162)
4. प्रीति चौधरी, देह धरे को दण्ड, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, (2014) पेज नं0–11
5. एस0 माधवन, स्त्री शक्ति, डायमण्ड पॉकेट बुक्स प्रकाशन, दिल्ली (2011) पेज नं0–(101)